International Research Journal of Human Resource and Social Sciences
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
Impact Factor 6.924 Volume 10, Issue 12, Dec 2023
Website- www.aarf.asia, **Email** : editoraarf@gmail.com

योग दर्शन में वर्णित साध्य विवेचन का एक अध्ययन

डॉ. जोगिन्द्र सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत,

राजकीय महाविद्यालय, हाँसी

सारः

योगदर्शन व्यवहार प्रधान दर्शन है। इसका सैद्धान्तिक पक्ष सांख्यदर्शन में विस्तृत रूप से विश्लेषित हुआ है। सांख्य दुःख की सार्वभौमिकता को स्वीकार करता है। योग दर्शन दुःखों को दूर करने के उपायों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करता है। योग दर्शन के अनुसार भी सांसारिक जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। योग की यह मान्यता है कि केवल तार्किक विवेचन से हम दुःखों से अपने को मुक्त नहीं कर सकते हमने पूर्व अध्याय में योग के स्वरूप पर विचार करते हुए दुःखों से छुटकारा पाने के लिए चित्तवृत्तियों के निरोध का विश्लेषण किया है। चिन्मय वह जीव अपने को प्रकृति के विकारों में इस प्रकार उलझा लेता है कि यह अपने सही स्वरूप को नहीं समझ पाता है। विकास क्रम में जब महत् या वृद्ध तत्व विकसित होते हैं, तो उसमें पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि में पड़ने वाले प्रतिभाग्य के साथ प्राणी अपने को तादात्म्य युक्त कर लेता है। यह भ्रान्तिपूर्ण तादात्म्य की स्थिति ही जीव के बन्धन का मूल कारण चतुष्पद और प्रकृति के पार्थोधन होना ही कारण है। जब पुरुष को यह बोध हो जाता है कि वह पुरूष है, तब प्रकृति तथा उसके विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। तब उसके बन्धन समाप्त हो जाते हैं और यह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

मुख्य भाब्दः क्लेश, त्रिगुणात्मक, अस्मिता, राग, अभिनिवेश, कैवल्य का स्वरूप

© Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

क्लेश– चित्त में अनेक प्रकार के क्लेश विद्यमान रहते हैं। इसलिए चित्त को क्लेशों का समूह कहा गया है। चित्त की अशुद्धि का कारण मुख्यतः क्लेश ही है। क्लेश से ही समस्त दुःखों का उदय होता है। क्रिया योग से सभी अशुद्धियों का नाश होता है। यदि सभी कारणों की राजस् चंचलता तथा तामस् जड़ता है। अतः उसके क्षीण होने से चित्त समाधि अवस्था की ओर अग्रसर होता है। अशुद्धि ही समस्त क्लेशों की चरमावस्था है। अतः उसके नष्ट हो जाने से क्लेश पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं।

त्रिगुणात्मक– चित्त में सत्व, रज, तम तीन गुण संयुक्त रूप विद्यमान रहते हैं। चित्त की अस्थिरता के कारण माया, काम, क्रोध आदि वासनाऐं हैं। जिसमें चित्त अस्थिर रहता है। इस प्रकार अज्ञान ही चित्त को अशुद्ध करता है।[1] इसलिए मिथ्या ज्ञान का नाश करना अत्यावश्यक है। अज्ञान ही चित्त पर अपना अधिकार दृढ़ कर लेता है। परिणामस्वरूप मनुष्य अज्ञानतावश मोह अथवा भोग में लिप्त हो जाता है। यही मनुष्य का बन्धन है और इसी बन्धन के कारण मनुष्य पाप और पुण्य करता है और सुख–दुःख का अनुभव करता है। यह सब दुःख अविद्या के कारण उत्पन्न होते हैं। अस्मितादि में क्लेशों का मूल कारण अविद्या ही है। समस्त क्लेशों की जननी अविद्या है। अतः अविद्या को दूर किये बिना चित्तवृत्ति निरोध होने पर भी क्लेशों का नाश नहीं होता। अतः अविद्या शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही क्षीण हो सकती है।[2] चित्त अनेक प्रकार के क्लेशों का समूह है। जिन्हें दूर करने से ही प्राणी योग मार्ग में अग्रसर हो सकता है क्योंकि ये क्लेश हो गुणों के अधिकार को दृढ बनाते हैं। महत्तव अहंकारादि परम्परा से परिणाम को स्थापित करते हैं तथा आपस में अनुग्रास्य अनुग्राहक बनकर कर्मों के फल जाति आयु, भोग करते हैं। कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं और क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। अतः वे आपस में एक दूसरे के सहायक होते हैं। यह कर्म–क्लेश परस्पर निरन्तर गतिमान होते हैं। ये क्लेश संस्कार रूप से चित्त में विद्यमान रहते हैं। ये क्लेश भविष्य में दुःख पहुँचायेंगे। ऐसा मुनष्य अनुभव नहीं करता परन्तु विवेकी पुरुष इन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए कहा है कि विवेकी पुरुष के लिए सब दुःख अपूर्ण हैं।'

इस प्रकार साधारण मनुष्य–समुदाय जिन भोगों को सुख रूप समझता है। विवेकी पुरुष के लिए ये भी दुःख ही है। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार इन चारों अवस्थाओं से युक्त समस्त क्लेश अविद्या प्रसुप्त–भूमि के समान है। पतंजलि के अनुसार प्रकृतिलय योगियों के क्लेश प्रसुप्त अवस्था में होते हैं।

क्रियायोग द्वारा शिथिलीकृत क्लेश तनु कहे जाते हैं। क्लेशों के क्षीण होने पर साधक को कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। ये क्लेश परस्पर विरूद्ध होते हैं। जैसे द्वेष होने पर राग और राग होने पर द्वेष नहीं होता। इस प्रकार के चिरकाल तक स्थायी नहीं रहते ये क्लेश कुछ समय पश्चात् आलम्बन को प्राप्त कर उदार अवस्था में आ जाते हैं।[3] समाधि के विरोधी क्लेश जिन्हें क्रियायोग द्वारा नष्ट किया जा सकता है। पंतजलि ने क्ले"ा पाँच प्रकार के बताये हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। पतंजलि के अनुसार अनित्य, अपवित्र, दुखात्मक एवं अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख एवं आत्म"ाुद्धि रखना अविद्या है। अविद्या दुख का मूल कारण माना गया है।[4] अविद्या का शाब्दिक अर्थ है विद्या का अभाव। इससे यह लक्षित होता है कि जिसमें जो धर्म विद्यमान नहीं है उसमें उस धर्म का ज्ञान होना ही अविद्या है। अविद्या के अनेक प्रकार हैं किन्तु क्लेशात्मक अविद्या चार प्रकार की है। संसार तथा सांसारिक वैभव सब अनित्य होते हुए भी उन्हें नित्य समझना अविद्या है।

अस्मिता– अस्मिता का अर्थ है दृक् शक्तिरूप पुरुष अथवा दर्शन शक्ति रूप बुद्धि यह दोनों परस्पर भिन्न हैं अतः इन दोनों का एक रूप जानना अस्मिता है। पंचाचार्य के अनुसार बुद्धि से परे पुरुष को आकार, शील एवं विद्या आदि के द्वारा भिन्न न देखकर उसमें आत्मबुद्धि मोहवश होती है। मनुष्य अस्मिता के कारण यह समझने लगता है कि संसार में उसका महत्व ह। अतः उसके मन में अहम् भाव उत्पन्न हो जाता है।

त्रिगुणात्मक प्रकृति की प्रथम अभिव्यक्ति बुद्धि है। इसलिए यह मलिन, जड़, परिणामी, क्रियाशील है। पुरुष निष्क्रिय द्रष्टा व अपरिणामी है किन्तु भिन्न होते हुए भी अविद्या के कारण अभिन्न प्रतीत होते हैं। पुरुष अविद्या के कारण चित्त में आत्मबुद्धि कर लेता है, दोनों का एक

प्रतीत होना ही अस्मिता है। जब चित्त में पुरुष प्रतिबिम्बित होता है तब यह स्थिति अस्मिता कहलाती है। सांख्ययोग में इसी को मोह कहा गया है। मोह के कारण ही जीव ऐश्वर्यों विषयों में घुला रहता है। भोग रूपी क्लेश अस्मिता के कारण ही होता है जिसको विवेकज्ञान द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

राग– सुख का अनुभव करने के पश्चात् पुनः सुख प्राप्ति की जो तृष्णा होती है उसे राग कहते हैं मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीर में जब आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है तो उसके ममत्व की उत्पत्ति स्वाभाविक है जिन विषयों से शरीर और मन को सुखानुभूति होती है। उनके प्रति राग उत्पन्न होता है। सुख का अनुभव करने के बाद मनुष्य बार–बार सुख की ही स्मृति करता है। अतः जिन मनुष्यों वस्तुओं आदि को हम अपना समझने लगते हैं। उनके प्रति असीम स्नेह का भाव उत्पन्न हो जाता है। जोव के बन्धन का कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषयों में आसक्ति है। इस आसक्ति के कारण ही मोह उत्पन्न होता है। इसी से सब दुःखों की उत्पत्ति होती है। संसार के प्रति लगाव बहुत दुःख देने वाला है। यह लगाव सांप की तरह डसता है, तलवार के समान काटता है, रस्सो की तरह लपेट लेता है, अग्नि के समान जलाता है तथा रात्रि के समान अन्धकार प्रदान करता है। तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर देती है।

द्वेष– जिस प्रकार सुख के प्रति आसक्ति हो जाती है, उसे राग कहा गया है। उसी प्रकार दुःख एवं सुख के प्रति जो घृणा, क्रोध है, उसे द्वेष कहा गया है। मनुष्य को जब किसी प्रतिकूल पदार्थ के प्रति दुःख का अनुभव होता है, तब द्वेष नामक क्लेश का उदय होता है। राग नामक क्लेश से ही द्वेष का उदय होता है। जब चित्त में राग के संस्कार अपना स्थान दृ ढ़ कर लेते हैं, तब उसमें कोई विघ्न या बाधा डालता है। उससे द्वेष नामक क्लेश का उदय होता है।[5]

राग–द्वेष अस्मिता के कारण उत्पन्न होते हैं। अस्मिता अविद्या के कारण उत्पन्न होती है। अतः द्वेष का मूल कारण अविद्या है। जिन वस्तुओं से दुःख उत्पन्न होता है। उनके संस्कार

चित्त में रहते हैं और जब उन वस्तुओं को देखा जाता है, तो पूर्व संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप क्रोध उत्पन्न होता है। जिसे द्वेष कहा जाता है।

अभिनिवेश– मृत्यु से भयभीत होना अभिनिवेश है। अभिनिवेश का अर्थ है अत्यन्त गहराई में प्रविष्ट होना। मृत्यु का भय प्रत्येक को एक जैसा होता है। यह मृत्यु भय प्राणियों में अनादि काल से चला आ रहा है। प्राणिमात्र को मृत्यु का भय बना रहता है तथा यह अपनी रक्षा के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहता है। यह मृत्यु भय जैसा मूर्ख को होता है वैसा ही विवेकशील पुरुष को भी होता है। इसे अभिनिवेश कहते हैं प्रत्येक व्यक्ति में जीवित रहने की इच्छा रहती है।

लेकिन आत्मज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं रहता। क्योंकि ज्ञानी को किसी प्रकार का मृत्यु भय नहीं रहता है। क्योंकि वह आत्मदृष्टा होता है, अजन्मा है, अनादि है। यह न तो कभी मरता है और न जन्म लेता है। आत्मा इन्द्रिय, मन आदि का विषय नहीं है। डॉ० शान्ति प्रकाश व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि आत्मा नित्य है, कर्मों द्वारा मारा जाता है।[6] आत्रेय ने अभिनिवेश के समाप्त होने तथा उनसे प्राप्त होने पर आठों–ऐश्वर्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध दिव्य और अदिव्य से दसों विषयों के भोग न मिलने के कारण मनुष्य व देवता सभी मृत्युभय रूपो अभिनिवेश क्लेश में रहते हैं।

जो प्रत्येक प्रकार के किये गये कर्मों के संस्कार सूक्ष्म रूप में प्राणी के साथ संलग्न रहते हैं।[7] इन कर्म संस्कारों का समूह कर्माशय है। कर्माशय का मूल कारण क्लेश ही है। योग भाष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से पाप–पुण्य कर्माशय उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर राग को काम, अविद्या तथा अस्मिता को मोह, द्वेष को क्रोध तथा अभिनिवेश को लोभ के रूप में प्रयुक्त किया गया है। डॉ० नलिनी शुक्ला के शब्दों में ''क्लेश ही सम्पूर्ण अनर्थ परम्परा का मूल कारण है।''

कैवल्य का स्वरूपः

हमारा सांसारिक जीवन दुःख से भरा है। इस विश्व प्रपंच में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है। जो दुःख से पीड़ित न हो और उससे बचने का प्रयत्न न करता हो। वस्तुतः यदि देखा

जाये तो देह के साथ ही दुःख का उदय हो जाता है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख निवृत्ति की सहज अभिलाषा रखता है। स्पष्ट है कि जीवन में क्षणिक सुख की अनुभूति की अपेक्षा सनातन दुःख की अनुभूति अधिक होती है। काल के प्रसंग में यदि देखें तो अतीत, वर्तमान और अनागत के भेद से दुःख के तीन भेद हैं। विचार करने पर ज्ञात होता है कि दुःख जो बीत चुका है, उससे निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। वर्तमान दुःख भी इसी क्षण भोगा होने के कारण हटाया नहीं जा सकता है। अतः अनागत दुःख से आत्यन्तिक– निवृत्ति के प्रति तीव्र अभिलाषा से यह बात पूर्णत सिद्ध हो जाती है कि इस विश्व प्रपंच में दुःख है तथा उससे पीड़ित प्राणी उसकी निवृत्ति का उपाय खोजते है। आत्मा और बुद्धि के बीच अविद्या का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। अविद्या के कारण जीव बन्धन में पड़ा रहता है तथा जीव स्वयं को कर्ता समझकर सुख, दुःख और मोह में जकड़ा रहता है। अतः समस्त दुःखों से निवृत्ति हेतु अविद्या का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। अविद्या का कारण पंच क्लेश हैं, जो यातनाओं को उत्पन्न करते हैं। वासनाओं का हेतु अविद्यादि क्लेश और उनसे होने वाले कर्म हैं। इनका फल पुनर्जन्म आयु और भोग है, आश्रय शक्ति है और शब्दादि विषय आलम्बन है। जब तक यह चारों रहेंगे तब तक वासनाएँ भी रहेंगी तथा तब तक जीव सुख, दुःख में फसा रहेगा और जन्म मरण से छुटकारा पाना उसके लिए असम्भव हो जाएगा। इस प्रकार यह जन्म–मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है। अतः जो स्वरूप से ही अनादि है। उसका अन्त होना असम्भव है। जैसे पुरुष स्वरूप से ही अनादि है। उसका अन्त होना असम्भव है परन्तु जो अनादि है। उसका उदय किसी न किसी कारण से अवश्य होगा। उसका ही अभाव हो जायेगा तो कार्य का स्वतः ही अभाव हो जायेगा। योग दर्शन की मान्यता है कि क्लेश–युक्त इस संसार में नीति का मार्ग योग है। योग दर्शन में परम लक्ष्य हेतु कैवल्यपद का प्रयाग किया गया है।[8] इस प्रकार विवेकज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण क्लेश, कर्म, वासना, कर्माशय आदि सभी विवेक की अग्नि में दग्ध हो जाते हैं। साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। जब जीव–मुक्त योगी के शरीर का भी अन्त हो जाता है, तब वह विदेहमुक्त हो जाता है। विदेहमुक्त का पुनः उदय नहीं होता। वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। विदेहमुक्त की प्रकृति और पुरुष से सदा के

लिए ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और पुरुष प्रकृति संयोग से सदैव विमुक्त होकर कैवल्य की अवस्था को प्राप्त करता है। यही प्रकृति के संयोग से विमुक्त केवल पुरुष कहा जाता है।[9]

योग साधना का यही चरम लक्ष्य है। योग दर्शन में अनेक प्रकार के आवरण से मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानना ही होता है। आबद्ध करने वाले बन्धनों को आत्म संयम से ही दूर किया जा सकता है। डॉ० एस० राधाकृष्णन का विचार है कि 'अन्याय अनेक दर्शन पद्धतियों की अपेक्षा योग दर्शन इस मत का स्वीकार करने पर कहीं अधिक बल देता है कि दार्शनिक ज्ञान हमें त्राण नहीं पहुंचा सकता। जिस वस्तु की हमें आवश्यकता है यह अनुसंधान अथवा विवेचन की सूक्ष्मताएं नहीं हैं, बल्कि इच्छा शक्ति को वश में करना है। हमें अपनी आन्तरिक भावनाओं और वासनाओं पर विजय पानी है ''अतः हम कह सकते हैं कि योगशास्त्र में सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। साधना द्वारा चित्त को अशुद्ध करने वाले कारकों का समूल नाश हो जाता है।

षड दर्शनों में ईश्वर का वर्णन

भारतीय दर्शन परम्परा में योगदर्शन अपनी प्रयोगात्मक कार्यप्रणाली के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय परम्परा के प्रमुख आस्तिक षड्दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर को परम ज्ञान का भंडार व सर्वज्ञ मानते हैं। न्याय–वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा–वेदान्त ये प्रत्येक युग्म एक–दूसरे के साथ अल्पाधिक सैद्धान्तिक समानता रखते है, ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में सभी एक मत है। परन्तु उसको व्यक्त करने व प्राप्त करने के सन्दर्भ में भिन्न–भिन्न विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं।[11]

न्याय दर्शन में आत्मा के दो प्रकार बताये गये हैं– जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा को ही ईश्वर कहा गया है। ईश्वर जीवात्मा से पूर्णतः भिन्न है। जीवात्मा जहाँ अल्पज्ञ, अनित्य एवं बन्धनग्रस्त है, वही परमात्मा सर्वज्ञ नित्य एवं स्वतंत्र है, न्याय दर्शन में ईश्वर को छः प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त माना गया है। न्याय दर्शन के उपर लिखित ग्रन्थ न्याय कुसमांजलि में

उदयनाचार्य जी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में तर्क देते हैं, यह उस परम सत्ता को सृष्टिकर्ता पालनकर्ता व संहारकर्ता के रूप में देखता है, और इस प्रकार न्याय परम्परा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करती हैं। वैशेषिक दर्शन में प्रयुक्त कुछ सूत्रों में ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त होता है। इन सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट वर्णन तो नही दिखाई पडता, परन्तु आगे चलकर प्रशस्तपाद भाष्य तथा न्याय कन्दली आदि वैशेषिक ग्रन्थों में ईश्वर का वर्णन मिलता है, न्याय और वैशेषिक समान तन्त्र माने जाते हैं, वैशेषिक के परवर्ती आचार्यों का ईश्वर विचार न्याय दर्शन पर आधारित है।[12] योगदर्शन में ईश्वर को पुरुष विशेष कहा है। उनके अनुसार क्लेश कर्म विपाक एवं आशय से सर्वथा जो मुक्त है, जो पुरुषों से विशेष है, वही ईश्वर है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

क्लेश– जो दुख देते हैं। उन दुखों के कारणों को कहते अस्मिता राग द्वेष एवं अभिनिवेश इन क्लेशों को योगदर्शन में दुख का मुख्य कारण कहा गया है। ईश्वर इन क्लेशों से अलग है। कर्मयोगसूत्र के पद में कई प्रकार के कर्मों का उल्लेख देखने को मिलता है। कृष्ण शुक्ल व कृष्ण इन सभी कर्मों में कृष्ण को साधना के प्रतिकूल माना गया है। ईश्वर इन कर्मों से अलग है। विपाक कर्मों के फलों को विपाक कहते हैं। कर्म और फलों का बहुत गहरा सम्बन्ध है। जिस प्रकार का कर्म हमारे द्वारा किया जाता है। उसी के अनुसार हमें फल प्राप्त होता है।[13] विश्लेषणः महर्षि पंतजलि ने योग दर्शन में प्रमुख चार स्थानों पर ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया है–

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।।1/23।।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।।2/11।।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।2/32।।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।2/45।।

योगदर्शन मे ईश्वर का प्रतिपादन एक ऐसे तत्व के रूप में हुआ है। जिसे ध्येय बनाकर साधक शीघ्र ही समाधि प्राप्ति में समर्थ हो सकता है। समाधि व उसके फल कैवल्य की प्राप्ति हेतू

ईश्वर प्रणिधान का विशेष महत्व है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है– ईश्वर की भक्ति, ध्यान एवं समर्पण। व्यास भाष्य के अनुसार सभी क्रियाओं को परमगुरु परमात्मा को अर्पण करना और उसके फल की इच्छा का त्याग करना ही ईश्वर प्रणिधान कहा गया है।[14]

योगसूत्र के समाधि पाद में 23वें सूत्र में तथा साधनपाद के 1, 32वें तथा 45वें सूत्र में ईश्वर शब्द का वर्णन देखने को मिलता है। इश्वर प्रणिधान का सर्वप्रथम उल्लेख समाधि पाद में ही देखने को मिलता है। उसके बाद साधन पाद में क्रियायोग में, फिर नियम के अंतर्गत तत्पश्चात् समाधि सिद्धि में ईश्वर प्रणिधान को एक महत्वपूर्ण व योग साधना के अभिन्न अंग के रूप में वर्णित किया गया है। प्रश्न यह है कि उपयुक्त सभी स्थलों पर ईश्वर प्रणिधान का अर्थ एक ही है या अलग–अलग है, यादि ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि की प्राप्ति हो जाती है तो फिर अन्य क्या योग के मार्ग व्यर्थ हैं?

समाधि पाद में वर्णित ईश्वर प्रणिधान भक्ति योग प्रधान है। वह समाधि प्राप्ति का सुगम मार्ग है,

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।1/28।।

सूत्र में जप करने से एवं ईश्वर का ध्यान करने से भी समाधि प्राप्ति की बात कही गयी है। वही क्रियायोग में ईश्वर प्रणिधान एक प्रमुख अंग के रूप में माना गया है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग कहा गया है। यहाँ ईश्वर ध्यान का विषय नहीं है अपितु ईश्वर को लक्ष्य करके कर्मफल त्याग का भाव करना बताया है। जिसे निष्काम कर्म कहा जाता है। साधन पाद के सूत्र संख्या 32 में ईश्वर प्रणिधान की चर्चा नियम के अतंर्गत है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान नियम कहलाते हैं। नियम वे है जिनका पालन करने से अन्दर व बाहर की पवित्रता आती है। साधक का चित्त शुद्ध होता है, और वह योग मार्ग के लिये उपयुक्त बनता है और धीरे–धीरे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। यहाँ ईश्वर प्रणिधान नैतिक अनुशासन और शारीरिक मानसिक तप का एक अंग है।

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।।2/45।।

सूत्र में ईश्वर प्रणिधान से समाधि प्राप्त होने की बात कही गई है। योगदर्शन में वर्णित अन्य विधियों की तुलना में ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से समाधि प्राप्ति सरल व सहज हो जाती है। जिसका अर्थ विकल्प, सादृश्य, वितर्क एवं समुच्चय आदि के रूप में प्रयुक्त होता है। संस्कृत के कुछ प्रसिद्ध साहित्यों में जैसे– किरातार्जुनीय 3/13 में भी वा शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु यहाँ इसका अर्थ समुच्चय माना गया है। योगसूत्र में वर्णित ईश्वरप्रणिधानाद्वा 1/23।। सूत्र में ईश्वर प्रणिधान को यहाँ विकल्प के रूप न लेकर समुच्चय के रूप में लिया गया ह। क्योंकि योगदर्शन की प्रमुख तीन साधनाओं में ईश्वर प्रणिधान को भिन्न–भिन्न अर्थों में अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। अभ्यास व वैराग्य आदि को परिभाषित करते समय हम श्रद्धापूर्वक किये गये अभ्यास को योगानुकूल मानते हैं। यहाँ श्रद्धा का अर्थ उस परम सत्ता ईश्वर के प्रति भावपूर्ण समर्पण से है। क्रियायोग में ईश्वर प्रणिधान को निष्काम कर्म साधन के रूप में स्वीकार किया है। अर्थात् अपने कर्मों को उस सर्वोच्च सत्ता को समर्पित कर कर्मों के फलों से मुक्त हो जाने से है। ईश्वर प्रणिधान के द्वारा समाधि प्राप्ति में ईश्वर को भक्ति योग के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। अष्टांग योग में वर्णित नियम में ईश्वर प्रणिधान को व्यक्तिगत व नैतिक अनुशासन के रूप में लिया गया है।[15]

ईश्वर को अलग तत्व के रूप में स्वीकार करने पर भी सृष्टि प्रक्रिया में उसके योगदान को प्रमुख टीकाकारों ने स्वीकार किया है, वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्राणी का जात्यान्तर परिणाम अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त करने में कारण रूप प्रकृति के त्रिगुण धर्मादि मात्र निमित्त है। प्रयोजक नहीं, क्योकि कोई भी कार्य अपने कारण का प्रवर्तक नहीं होता है। प्रवर्तक तो केवल स्वतंत्र व्यक्ति ही हो सकता है। विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न करने के कारण ईश्वर को सृष्टि का उद्‌बोधक माना है। प्रस्तुत तथ्यों पर विश्लेषण करने पर हम योगदर्शन में प्रदत्त साधना पद्धतियों में ईश्वर के स्वरूप को साधन व साध्य के रूप में देखते हैं।[16]

निश्कर्शः

शरीर के स्वस्थ रहने पर ही मस्तिष्क स्वस्थ रहता है मस्तिष्क से ही शरीर की समस्त क्रियाओं का संचालन होता है। इसके स्वस्थ और तनावमुक्त होने पर ही शरीर की सारी क्रियाएँ भली प्रकार से सम्पन्न होतो है। इस प्रकार हमारे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास के लिए योगासन अति आवश्यक है। हमारा हृदय निरन्तर कार्य करता है। हमारे थककर आराम करने या रात को सोने के समय भी हृदय गतिशील रहता है। हमारा हृदय प्रतिदिन लगभग 8000 लीटर रक्त को पम्प करता है। उसकी यह क्रिया जीवन भर चलती रहती है। यदि हमारी रक्त नलिकाएँ साफ होगी तो हृदय को अतिरिक्त मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। इससे हृदय स्वस्थ रहेगा और शरीर के अन्य भागों को शुद्ध रक्त मिल पाएगा। जिससे हम नीरोग व सबल हो जाएँगे। फलतः व्यक्ति की कार्य क्षमता भी बढ़ जाएगी।

मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए हमारे जीवन में योग अत्यन्त उपयोगी है। शरीर, मन एवं आत्मा के बीच सन्तुलन अर्थात् योग स्थापित करना होता है। योग की प्रक्रियाओं में जब तन, मन और आत्मा के बीच सन्तुलन एवं योग (जुड़ाव) स्थापित होता है, तब आत्मिक सन्तुष्टि, शान्ति एवं चेतना का अनुभव होता है। योग शरीर को शक्तिशाली एवं लचीला बनाए रखता है, साथ ही तनाव से भी छुटकारा दिलाता है। यह शरीर के जोड़ों एवं मांसपेशियों में लचीलापन लाता है। मांसपेशियों को मजबूत बनाता है शारीरिक विकृतियों को काफी हद तक ठीक करता है। शरीर में रक्त प्रवाह को सुचारु करता है तथा पाचन तन्त्र को मजबूत बनाता है। इन सबके अतिरिक्त यह शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्तियाँ बढ़ाता है, कई प्रकार की बीमारियों जैसे अनिद्रा, तनाव, थकान, उच्च रक्तचाप, चिन्ता इत्यादि को दूर करता है तथा शरीर को ऊर्जावान बनाता है। आज की भागदौड़ भरी जिन्दगी में स्वस्थ रह पाना किसी चुनाती से कम नहीं है। अतः हर आयु वर्ग के स्त्री–पुरुष के लिए योग उपयोगी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

* आईसीएमआर द्वारा भारतीयों के लिए पोषक आवश्यकता और अनुशंसित आहार भत्ता।
* पदुबिद्री वी.जी., दफ्तरी शारिश एन. हॉकिन्स और बॉर्न शॉ (1998) स्त्री रोग विज्ञान की पाठ्यपुस्तक, बी.आई. चर्चिल लिविंगस्टोन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 337।
* प्रशांत के. और चंदर शॉ (2009), दक्षिण भारत में एक शहरी स्लम क्षेत्र से किशोर लड़कियों की पोषण स्थिति, द्वितीय। जौन. एल., पी.एन.ओ. 76(5):50.
* रानी डी. उषा, रेड्डी सुधाकरा एम.वी. और श्रीदेवम्मा एम., (2003), पोषण और धर्म, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पी. 59–86।
* शाइन कुमार, (2000). सामान्य विकारों की एलोपैथिक मार्गदर्शिका। डायमंड पॉकेट बुक प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली।
* सुरेश कुमार, (2004), आधुनिक परिदृश्य में योग और स्वास्थ्य जागरूकता पेपर आई.सी. में प्रस्तुत किया गया। मनोविज्ञान पर, योग पर। हरिद्वार, पेज नं. 118.
* स्वामी कर्मानन सरस्वती, (1983)। सामान्य रोगों का योगिक प्रबंधन बिहार स्कूल ऑफ योगा, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 198।
* स्वामी शिवानंद, (1997)। योग आसन। एक दिव्य जीवन समाज प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 79।
* टोरियोटेशन एबेल एल., (1987), ''बॉडी कंपोजिशन एंड एंथ्रोपोमेट्रिक कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ एलीट बास्केटबॉल एंड वॉलीबॉल प्लेयर्स'', जर्नल्स ऑफ स्पोर्ट्स मेडिसिन एंड फिजिकल फिटनेस, पी.एन.ओ. 235.

* वेल क्रिस्टीन एल., महिला खेल और प्रदर्शन चौंपियन, ह्यूमन काइनेटिक प्रकाशक, पृष्ठ संख्या 83।
* पातंजलयोगदर्शन, ब्रह्मलीनमुनि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1970, सूत्र 1.2 'योगश्चित्तवृतिनिरोधः'।
* योगसूत्र, व्यासभाष्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, 1980, सूत्र 1.13, 'तत्र स्थितौ यत्नोअभ्यासः'।
* दासगुप्ता, एस.एन. भारतीय विचार की अन्य प्रणाली के संबंध में योग दर्शन, कोलकाता, 1920. पृष्ठ 42–69
* दासगुप्ता, एस.एन., ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, वॉल्यूम। 1 (कैम्ब्रिज), 1922, वॉल्यूम। 2 (कैम्ब्रिज), 1922. पीपी. 211–271.
* हार्ट, सी, ट्रेसी बीः स्थिरता प्रशिक्षण के रूप में योगः युवा वयस्कों में मोटर परिवर्तनशीलता पर प्रभाव। जर्नल ऑफ स्ट्रेंथ एंड कंडीशनिंग रिसर्च 1659–1669, 2008